अपभ्रंश साहित्य-परम्परा

☐ **डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री,** प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, शासकीय महाविद्यालय, नीमच (म० प्र०)

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारतीय भाषाओं के मूल में सांस्कृतिक विरासत निहित है। भाषाओं के स्वाभाविक प्रवाह में जो भाव समय-समय पर प्रकट होते रहे, वे लेखांकन के अभाव में साहित्यिक रूप ग्रहण नहीं कर सके; किन्तु लोक में प्रचलित अवश्य रहे। संस्कृत के नाटकों के मूल में यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। भारतीय साहित्य की मूल परम्परा अभिनय से विभिन्न रूपों से विकसित लक्षित होती है। संस्कृत के नाट्य-साहित्य में लोकप्रचलित प्राकृत भाषाओं का प्रयोग, देशी रागों में गायी जाने वाली ध्रुवा-गीतियाँ एवं चर्चरियाँ इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। प्राकृत साहित्य की रचना इसी मूल धारा को लेकर हुई है। क्योंकि अभिनय और गेयता—इन दोनों का मूल सम्बन्ध लोकजीवन तथा प्राकृत-साहित्य से रहा है।

वस्तुतः लोक-परम्परा ही भारतीय परम्परा का मूल है। परन्तु आज हमें जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध होता है, उसके आधार पर ही हम साहित्यिक परम्परा का स्रोत खोजते हैं। सम्भव है कि संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य के मध्यकालीन (उत्तरकालिक गुप्तकाल) रूप को देखकर वे एक-दूसरे से प्रभावित लक्षित होते हों, किन्तु उनकी भाव-भूमि और रचना का मूल उस आदिकालिक परम्परा में निहित है जो आर्य-संस्कृति व साहित्य की मूल उद्भावक रही है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। यह साहित्य अधिकतर प्राकृत साहित्य का अनुवर्ती रहा है और प्राकृत भाषा तथा साहित्य की आनुपूर्वी में गतिशील रहा। इसलिए प्राकृत साहित्य की विभिन्न भावधाराओं एवं शैलियों का स्फीति आकलन आज भी स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपभ्रंश साहित्य की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनको वह मूल रूप से सहेजे हुए है। साहित्यिक निदर्शन के रूप में अपभ्रंश साहित्य की परम्परा एक ओर महाकवि कालिदास की 'विक्रमोर्वशीय' जैसी प्राचीन रचनाओं में तथा 'गाथासप्तशती' में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, तो दूसरी ओर प्राकृत साहित्य के सुयगडंग, वसुदेवहिण्डी, आवश्यकचूर्णि तथा आख्यानकमणिकोश में परिलक्षित होती है।

आधुनिक युग में इस परम्परा को खोजने वाले यूरोपीय विद्वानों की शोध-खोज से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्राच्यविद्या-जगत् में यह एक नया आयाम था, जिसने जैनधर्म व प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश साहित्य की जानकारी के साथ भाषावैज्ञानिक इतिहास तथा भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास के मूल रूप को उँजागर किया। किन्तु आज भी इस भाषा और साहित्य के अध्ययन व अनुसन्धान के द्वारा विभिन्न पार्श्ववर्ती क्षेत्रों, साहित्यिक रूपों, भाषागत प्रभेदों, रूप-रचना, संघटन आदि का विश्लेषण व अनुशीलन अपेक्षित है।

जैनविद्या के महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान के रूप में उल्लेखनीय विद्वान् अल्बर्ट वेबर हैं। बम्बई के शिक्षा-विभाग से अनुमति प्राप्त कर डॉ० बूलर ने जिन पाँच सौ ग्रन्थों को बर्लिन पुस्तकालय में भेजा था, उनका अध्ययन व अनुशीलन कर वेबर कई वर्षों तक परिश्रम कर भारतीय साहित्य (Indishen Studies) के रूप में महान ग्रन्थ १८८२ ई० में प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सत्रह जिल्दों में निबद्ध है। यद्यपि 'कल्पसूत्र' का अँग्रेजी अनुवाद १८४८ ई० में स्टीवेन्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका था, किन्तु जैन आगम ग्रन्थों की भाषा तथा साहित्य की ओर तब तक विदेशी विद्वानों का विशेष रूप से झुकाव नहीं हुआ था। वेबर ने इस साहित्य का विशेष महत्त्व प्रतिपादित कर १८५८ ई० में धनेश्वरसूरि कृत "शत्रुंजय माहात्म्य" का सम्पादन कर विस्तृत भूमिका सहित प्रथम बार लिपजिग

से प्रकाशित कराया। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ "भगवती सूत्र" पर जो शोध-कार्य वेबर ने किया, वह चिरस्मरणीय माना जाता है। यह ग्रन्थ बर्लिन की विसेन्चाफेन (Wissenchaften) अकादमी से १८६६-६७ में मुद्रित हुआ था। वेबर ने जैनों के धार्मिक साहित्य के विषय में विस्तार से लिखा था, जिसका अँग्रेजी अनुवाद स्मिथ ने प्रकाशित किया था। विण्डिश ने अपने विश्वकोश (Encyclopedia of Indo Aryan Researc ι) में तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिया है। इस प्रकार जैन विद्याओं के अध्ययन का सूत्रपात करने वाला तथा शोध व अनुसन्धान को निर्दिष्ट करने वाला विश्व का सर्वप्रथम अध्ययन-केन्द्र जर्मन में विशेष रूप से बर्लिन रहा है। होएफर, लास्सन, स्वीगल, फ्रेडरिक हेग, रिचर्ड पिशेल, अल्वर्ट वेबर, ई० ब्युमन, डॉ० हर्मन जेकोबी, डब्ल्यू व्हिटसन, वाल्टर शुब्रिग, लुडविग आल्डोर्फ, नार्मन ब्राउन, क्लास ब्रुहन, गुस्तेव राथ और डब्ल्यू० बी० बोल्ले इत्यादि जर्मन विद्वान् है।

विदेशों में पूर्व जर्मनी में फ्री युनिवर्सिटी, बर्लिन में प्रोफेसर डॉ० क्लास ब्रुहन (Klaus Bruehn) जैन लिटरेचर एण्ड माइथालाजी, इण्डियन आर्ट एण्ड इकोनोग्राफी का अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। उनके सहयोगी डॉ० चन्द्रभाई बी० त्रिपाठी बुद्धिस्ट जैन लिटरेचर तथा डॉ० मोनीका जार्डन 'जैन लिटरेचर' का अध्यापन-कार्य करने में प्रवृत्त हैं। पेनिसिलवानिया युनिवर्सिटी में नार्मन ब्राउन के निर्देशन में प्राकृत तथा जैन साहित्य पर अनुसन्धान-कार्य चल रहा है। इसी प्रकार युनिवर्सिटी आफ केम्ब्रिज में के० आर० नार्मन अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। लीडन युनिवर्सिटी में प्रोफेसर एफ० बी० जे० क्युपर भी इस दिशा में प्रवर्तमान हैं।

प्राच्य-विद्याओं की भाँति जैनविद्याओं का भी दूसरा महत्वपूर्ण अध्ययन-केन्द्र फ्रान्स था। फ्रांसीसी विद्वानों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है—ग्युरिनाट। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एसे डि बिब्लियाग्राफि जैन' पेरिस से १९०६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें विभिन्न जैन विषयों से सम्बन्धित ८५२ प्रकाशनों के सन्दर्भ निहित हैं। 'जैनों का धर्म' पुस्तक उनकी पुस्तकों में सर्वाधिक चर्चित रही। यथार्थ में फ्रांसीसी विद्वान् विशेषकर ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक विषयों पर शोध व अनुसन्धान कार्य करते रहे। उन्होंने इस दिशा में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, वे आज भी उल्लेखनीय हैं। ग्युरिनाट ने जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक महत्त्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने जैन ग्रन्थ सूची निर्माण के साथ ही उन पर टिप्पण तथा संग्रहों का भी विवरण प्रस्तुत किया था।[1] वास्तव में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धान में ग्रन्थ-सूचियों का विशेष महत्त्व है। यद्यपि १८९७ ई० में जर्मन विद्वान् अर्नेस्ट ल्युपन ने 'ए लिस्ट आव द मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द लायब्रेरी एट स्ट्रासवर्ग' वियेना ओरियन्टल जर्नल, जिल्द ११, पृ० २७९ में दो सौ हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय दिया था, किन्तु ग्युरिनाट के पश्चात् इस दिशा में क्लाट (Klatt) ने महान् कार्य किया था। उन्होंने जैन ग्रन्थों की लगभग ११००-१२०० पृष्ठों में मुद्रित होने योग्य अनुक्रमणिका तैयार की थी, किन्तु दुर्भाग्य से उस कार्य के पूर्ण होने के पूर्व ही उनका निधन हो गया। वेबर और अर्नेस्ट ल्युमन ने 'इण्डियन एन्टिक्वेरी' में उस बृहत् संकलन के लगभग ५५ पृष्ठ नमूने के रूप में मुद्रित कराए थे।[2] भारतवर्ष में इस प्रकार का कार्य सर्वप्रथम बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के माध्यम से प्रकाश में आया। १८७७ ई० में राजेन्द्रलाल मिश्र ने 'ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग आव् संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द लाइब्रेरी आव् द एशियाटिक सोसायटी आव् बेंगाल' कलकत्ता से प्रकाशित किया था, जिसमें कुछ प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं। मुख्य रूप से इस महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इस क्षेत्र में भण्डारकार के प्रकाशित 'लिस्ट्स आव् संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन द बाम्बे प्रेसीडेन्सी' ग्रन्थ से माना जाता है। इसी शृंखला में सुपार्श्वदास गुप्त द्वारा सम्पादित 'ए केटलाग आव् संस्कृत, प्राकृत एण्ड हिन्दी वर्क्स इन द जैन सिद्धान्त भवन, आरा' (१९१९ ई०) एवं दलाल और लालचन्द्र म० गांधी द्वारा

---

[1] द्रष्टव्य है: 'द कन्ट्रिब्युशन आव् फ्रेन्च एण्ड जर्मन स्कालर्स टु जैन स्टडीज' शीर्षक लेख, प्रकाशित आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, कलकत्ता, १९६१, पृ० १६६

[2] मुनिश्री हजारीलाल स्मृति-ग्रन्थ में प्रकाशित, गोपालनारायण बहुरा का लेख 'जैन वाङ्मय के योरपीय संशोधक', पृ० ७४७-४८ द्रष्टव्य है।

सम्पादित 'केटलाग आव् मैन्युस्क्रिप्ट्स इन जैसलमेर भाण्डाराज' गायकवाड़ ओ० सी०, बड़ौदा (१९२३ ई०), 'रायबहादुर हीरालाल-केटलाग आव् संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड बरार, नागपुर, १९३६ ई० आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिकतम खोजों के आधार पर इस दिशा में कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-सूचियों का निर्माण हुआ, जिनमें एच० डी० वेलणकर का 'केटलाग आव् प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३-४, बम्बई (१९३० ई०) तथा 'जिनरत्नकोश', पूना (१९४४ ई०), हीरालाल रसिकदास कापड़िया का 'डिस्क्रिप्टिव केटलाग आव् मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द गवर्नमेन्ट मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, भण्डारकर ओ० रि० इं०, पूना' (१९५४ ई०), डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल का 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, भा० १-५' तथा मुनि जिनविजयजी के 'ए केटलाग आव् संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द राजस्थान ओ० रि० इं०, जोधपुर कलेक्शन' एवं मुनि पुण्यविजयजी के पाटन के जैन भण्डारों की ग्रन्थ-सूचियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश के जैन ग्रन्थों की प्रकाशित एवं अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची के लिए लेखक की भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पुस्तक 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ' पठनीय है, जिसमें अपभ्रंश से सम्बन्धित सभी प्रकार का विवरण दिया गया है। वास्तव में जर्मन विद्वान् वाल्टर शुब्रिंग ने सर्वप्रथम जैन हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत् सूची तैयार की थी जो १९४४ ई० में लिपजिग से प्रकाशित हुई और जिसमें ११२७ जैन हस्तलिखित ग्रन्थों का पूर्ण विवरण पाया जाता है। यह सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। इस प्रकार के कार्यों से ही शोध व अनुसन्धान की दिशाएँ विभिन्न रूपों को ग्रहण कर सकीं।

आधुनिक युग में प्राकृत तथा अपभ्रंश विषयक शोध-कार्य मुख्य रूप से तीन धाराओं में प्रवाहित रहा है—(१) साहित्यिक अध्ययन (२) सांस्कृतिक अध्ययन और (३) भाषावैज्ञानिक अध्ययन। साहित्यिक अध्ययन के अन्तर्गत जैन आगम-साहित्य का अध्ययन प्रमुख है। यह एक असन्दिग्ध तथ्य है कि आधुनिक युग में जैनागमों का भलीभाँति अध्ययन कर उनको प्रकाश में लाने का श्रेय जरमन विद्वानों को है। यद्यपि संस्कृत के कतिपय जैन ग्रन्थों का अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होने लगा था, किन्तु प्राकृत में तथा अपभ्रंश साहित्य का सांगोपांग अध्ययन डॉ० हर्मन जेकोबी से आरम्भ होता है। डा० जेकोबी ने कई प्राकृत जैन ग्रन्थों का सम्पादन कर उन पर महत्वपूर्ण टिप्पण लिखे। उन्होंने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जैनागम-ग्रन्थ "भवगतीसूत्र" का सम्पादन कर १८६८ ई० में प्रकाशित किया।[1] तदुपरान्त "कल्पसूत्र" (१८७९ ई०), "आचारांगसूत्र" (१८८५ ई०), "उत्तराध्ययनसूत्र" (१८८६ ई०) आदि ग्रन्थों पर शोध-कार्य कर सम्पादित किया। इसी समय साहित्यिक ग्रन्थों में जैन कथाओं की ओर डॉ० जेकोबी का ध्यान गया। सन् १८८१ ई० में "उपमितिभवप्रपंचकथा" का संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व "कथासग्रह" १८८६ ई० में प्रकाशित हो चुका था। "पउमचरियं", "णेमिणाहचरिउ" और "सणयकुमारचरिउ" क्रमश: १९१४, १९२१, २१ में प्रकाशित हुए। इसी अध्ययन की शृंखला में अपभ्रंश का प्रमुख कथाकाव्य "भविसयत्तकहा" का प्रकाशन सन् १९१८ में प्रथम बार मचन (जर्मनी) से हुआ। इस प्रकार जरमन विद्वानों के अथक प्रयत्न, परिश्रम तथा लगातार शोधकार्यों में संलग्न रहने के परिमामस्वरूप ही जैन विद्याओं में शोध व अनुसन्धान के नए आयाम उत्मुक्त हो सके हैं। आल्सडोर्फ ने "कुमारपाल-प्रतिबोध" (१९२८ ई०), हरिवंशपुराण (महापुराण के अन्तर्गत), (१९३६ ई०), उत्तराध्ययनसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना (१९८०) आदि ग्रन्थों का सुसम्पादन कर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य पर महान कार्य किया। वाल्टर शुब्रिंग ने 'दसवेयालियसुत्त—दशवैकालिकसूत्र" का एक सुन्दर संस्करण तथा अँग्रेजी अनुवाद तैयार किया जो १९३२ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा ही सम्पादित "इसिभासिय" भा० २(१९४३ ई०) प्रकाशित हुआ। शुब्रिंग और केल्लट के सम्पादन में तीन छेदसूत्र "आयारदसाओ, ववहार और निसीह" १९६६ ई० में हेम्बर्ग से प्रकाशित हुए। इसी प्रकार जे० एफ० कोल का "सूर्य प्रज्ञप्ति" (१९३७ ई०), डब्लू, किफेल का "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति" (१९३७ ई०), हम्म का 'गीयत्थविहार" (महानिशीथ का छठा अध्ययन) (१९४८ ई०), क्लास का "चउप्पनमहापुरिसचरियं" (१९५५ ई०), नार्मन का 'स्थानांगसूत्र"[2] (१९५६), आल्सडोर्फ का "इत्थिपरिन्ना" (१९५८ ई०) ए० ऊनो

---

[1] एफ० विएसिंगर : जरमन इण्डालाजी—पास्ट एण्ड प्रिजेन्ट, बम्बई, १९६९, पृ० २१

[2] संस्कृत एण्ड एलाइड एण्डोलाजिकल स्टडीज इन यूरोप, १९५६, पृ० ६६

का "प्रवचनसार" (१६६६ ई०) तथा टी० हनाकी का "अनुयोगद्वारसूत्र" (१६७०) इत्यादि। १६२५ ई० में किरफल (Kirfel) ने उपांग "जीवाजीवाभिगम" के सम्बन्ध में प्रतिपादन कर यह बताया था कि वस्तुतः यह "जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति" से सम्बद्ध है। सन् १६२६ में वाल्टर शुब्रिग ने अपनी पुस्तक "वोर्त महावीराज" के परिचय में जैनागमों के उद्भव विकास के साथ ही उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी किया था। सन् १६२६ में हेम्बर्ग में काम्पत्ज (Kamptz) ने आगमिक प्रकीर्णकों को लेकर शोधोपाधि हेतु अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर डाक्टरेट प्राप्त की थी।[1] जैनागम के टीका-साहित्य पर सर्वेक्षण का कार्य अर्नेस्ट ल्युमन ने बहुत ही परिश्रमपूर्वक किया था, किन्तु वे उसे पूर्ण नहीं कर कर सके। अनन्तर "ओवेरश्चिट् ओवेर दि आवश्यक लिटरेचर" के रूप में वाल्टर शुब्रिग ने १६२४ में हेम्बर्ग से प्रकाशित किया।[2] इस प्रकार जैनागम तथा जैन साहित्य की शोध-परम्परा के पुरस्कर्ता जरमन विद्वान् रहे हैं। आज भी वहाँ शोध व अनुसन्धान का कार्य गतिमान है। सन् १६३५ में फेडेगन (Faddegon) ने सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने "प्रवचनसार" का अंग्रेजी अनुवाद किया था। इस संस्करण की विशेषता यह है कि आचार्य अमृतचन्द्र की "तत्त्वप्रदीपिका" टीका, व्याख्या व टिप्पणों से यह अलंकृत है।[3] ऐसे अनुवादों की कमी आज बहुत खटक रही है। इस तरह के प्रकाशन की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वर्तमान युग में सम्यक् दिशा में सम्यक् कार्य होना नितान्त अपेक्षित है।

साहित्यिक विधाओं में जैन कथा-साहित्य पर सर्वप्रथम डॉ० जेकोबी ने प्रकाश डाला था। इस दिशा में प्रमुख रूप से अर्नेस्ट ल्युमन ने पादलिप्तसूरि की "तरंगवतीकथा" का जर्मन भाषा में सुन्दर अनुवाद "दाइ नोन' (Die Nonne) के नाम से १६२१ ई० में प्रकाशित किया था। तदनन्तर हर्टेल ने जैन कथाओं पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। क्लास बुह्न ने "शीलांक के चउप्पनमहापुरिसचरियं" पर शोधोपाधि प्राप्त कर सन् १६५४ में उसे हेम्बर्ग से प्रकाशिन किया। आर० विलियम्स ने "मणिपतिचरित" के दो रूपों को प्रस्तुत कर मूल ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद किया। इस तरह समय-समय पर जैन कथा साहित्य पर शोध-कार्य होता रहा है।

जैन-दर्शन के अध्ययन की परम्परा हमारी जानकारी के अनुसार आधुनिक काल में अल्ब्रेख्त वेबर के "फ्रेगमेन्ट आव भगवती" के प्रकाशन से १८६७ ई० से मानना चाहिए। कदाचित् एच० एच० विलसन ने सर्वप्रथम "ए स्केच आव द रिलीजियस सेक्ट्स आव द हिन्दूज" (जिल्द १, लन्दन), (१८६२ ई०) पुस्तक में जैनधर्म तथा जैनदर्शन का उल्लेख किया था। किन्तु उस समय तक यही माना जाता था कि जैनधर्म हिन्दूधर्म की एक शाखा है। किन्तु, वेबर, जेकोबी, ग्लासनेप आदि जरमन विद्वानों के शोध व अनुसन्धान कार्यों से यह तथ्य निश्चित व स्थिर हो गया कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र दर्शन व मौलिक परम्परा है। इस दृष्टि से डॉ० हेल्मुथ वान ग्लासनैप की पुस्तक "द डाक्ट्राइन आव कर्मन इन जैन फिलासफी" अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो सन् १६४२ में बम्बई से प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से जीमर और स्मिथ के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एफ० डल्ब्यू० थामस ने आ० हेमचन्द्र कृत "स्याद्वादमंजरी" का बहुत सुन्दर अँग्रेजी अनुवाद किया जो १६६० ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। १६६३ ई० में आर० विलियम्स ने स्वतन्त्र रूप से "जैन योग" पर पुस्तक लिखी जो १६६३ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुई। कोलेट केल्लट ने जैनों के श्रावक तथा मुनि आचार विषयक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक "लेस एक्सपिएशन्स डान्स ले रिचुअल एन्शियन डेस रिलिजियक्स जैन" लिखकर १६६५ ई० में पेरिस से प्रकाशित की। वास्तव में इन सब विषयों पर इस लघु निबन्ध में लिख पाना सम्भव नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि परमाणुवाद से लेकर वनस्पति, रसायन आदि विविध विषयों का जैनागमों में जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है, उनको ध्यान में रखकर विभिन्न विद्वानों ने पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही विश्वकोशों में भी उनका विवरण देकर शोध व अनुसन्धान की दिशाओं को प्रशस्त किया है। उनमें से जैनों के दिगम्बर साहित्य व दर्शन पर जरमनी विद्वान् वाल्टर डेनेके (Walter Denecke) ने अपने शोध-प्रबन्ध में

---

[1] प्रोसीडिंग्स आव् द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना यूनिवर्सिटी, १६७०, पृ० २१०

[2] वही, पृ० २१०

[3] वही, पृष्ठ २११

दिगम्बर आगमिक ग्रन्थों का भाषा व विषयवस्तु दोनों रूपों में पर्यालोचन किया था। उनका प्रबन्ध सन् १६२३ में हेम्बर्ग से "दिगम्बर-टेक्स्टे : ईन दर्शतेलगु इहरेर श्प्राख उन्ड इन्हाल्ट्स" के नाम से प्रकाशित हुआ था।[1]

भारतीय विद्वानों में डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, हीरालाल जैन, पं० बेचरदास दोशी, डॉ० प्रबोध पण्डित, सिद्धान्ताचार्य, प० कैलाशचन्द्र, सिद्धान्तचार्य, पं० फूलचन्द्र, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० सुखलालजी संघवी, पं० दलसुखभाई मालवणिया, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० एच० सी० भायाणी, डॉ० के० आर० चन्द्र, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, डॉ० प्रेमसुमन और लेखक के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्ये ने एक दर्जन प्राकृत ग्रन्थों का सम्पादन कर कीर्तिमान स्थापित किया। अपभ्रंश के 'परमात्मप्रकाश" का सम्पादन आपने ही किया। "प्रवचनसार" और 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे ग्रन्थों का सफल सम्पादन का श्रेय आपको है। साहित्यिक तथा दार्शनिक दोनों प्रकार के ग्रन्थों का आपने सुन्दर सम्पादन किया। आचार्य सिद्धसेन के "सन्मतिसूत्र" का भी सुन्दर संस्करण आपने प्रस्तुत किया, जो बम्बई से प्रकाशित हुआ। प्राच्य विद्याओं के क्षेत्र में आपका मौलिक एवं अभूतपूर्व योगदान रहा है। डॉ० हीरालाल जैन और सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ धवला, जयधवला आदि का सम्पादन व अनुवाद कर उसे जनसुलभ बनाया। अपभ्रंश ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० हीरालाल जैन, पी० एल० वैद्य, डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, पं० परमानन्द शास्त्री, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन और डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री को है।[1] प० परमानन्द जैन शास्त्री के "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह" के पूर्व तक अपभ्रंश की लगभग २५ रचनाओं का पता चलता था, किन्तु उनके प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित होने से १२६ रचनाएँ प्रकाश में आ गईं। लेखक ने "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ" में अपभ्रंश के अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रन्थों के अंश उद्धृत कर लगभग चार सौ अपभ्रश के ग्रन्थों को प्रकाशित कर दिया है। जिन अज्ञात व अप्रकाशित रचनाओं को पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया गया, उनमें से कुछ नाम हैं—

(१) शीतलनाथकथा (श्री दि० जैन मन्दिर, घियामंडी, मथुरा), (२) रविवासरकथा-मधु (श्री दि० जैन मन्दिर, कामा), (३) आदित्यवारकथा-अर्जुन (श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर, दिल्ली)। इनके अतिरिक्त ईडर व नागौर के जैन भण्डारों में पाई जाने वाली महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश रचनाओं की भी जानकारी मिली है। उन सब को सम्मिलित करके आज अपभ्रंश-साहित्य की छोटी-बड़ी सभी रचनाओं को मिलाकर उसकी संख्या पाँच सौ तक पहुँच गई है। शोध व अनुसन्धान की दिशाओं में आज एक बहुत बड़ा क्षेत्र विद्वानों का राह जोह रहा है। शोध-कार्य की कमी नहीं है, श्रमपूर्वक कार्य करने वाले विद्वानों की कमी है।

विगत तीन दशकों में जहाँ प्राकृत व्याकरणों के कई संस्करण प्रकाशित हुए, वहीं रिचर्ड पिशेल, सिल्वांलेवी और डॉ० कीथ के अन्तर्निरीक्षण के परिणामस्वरूप संस्कृत के नाटकों में प्राकृत का महत्वपूर्ण योग प्रस्थापित हुआ। आर० श्मित ने शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में उसके नियमों का (एलीमेन्टरबुख देर शौरसेनी, हनोवर, १६२४), जार्ज ग्रियर्सन ने पैशाची प्राकृत का, डॉ० जेकोबी तथा आल्सडोर्फ ने महाराष्ट्री तथा जैन महाराट्री का और डब्ल्यू० ई० क्लार्क ने मागधी और अर्द्धमागधी का एवं ए० बनर्जी और शास्त्री ने मागधी का (द एवोल्युशन आव् मागधी, आक्सफोर्ड, १६१२) विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया था। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से नित्ति डोल्ची का विद्वत्तापूर्ण कार्य "लेस

---

१. प्राकृत स्टडीज आउटसाइड इण्डिया (१६२०-६६) शीर्षक लेख एस० डी० लद्दू, प्रोसीडिंास आव् द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १६७०, पृ० २०६

२. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोधप्रवृत्तियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १६७२; तथा – द्रष्टव्य है—

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूप-रेखा, त्रिश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

ग्रेमेरियन्स प्राकृत्स" (पेरिस, १६३८) प्रायः सभी भाषिक अंगों पर प्रकाश डालने वाला है। नित्ति डोल्ची ने पुरुषोत्तम के "प्राकृतानुशासन" पेरिस, १६३८) तथा रामशर्मन् तर्कवागीश के "प्राकृतकल्पतरु" (पेरिस, १६३६) का सुन्दर संस्करण तैयार कर फ्रांसीसी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। व्याकरण की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कार्य रिचर्ड पिशेल का "ग्रेमेटिक देअर प्राकृत-श्प्राखन" अद्भुत माना जाता है, जिसका प्रकाशन १६०० ई० में स्ट्रासवर्ग से हुआ।

इधर भाषाविज्ञान की कई नवीन प्रवृत्तियों का जन्म तथा विकास हुआ। परिणामतः भाषाशास्त्र के विभिन्न आयामों का प्रकाशन हुआ। उनमें ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा शब्द व्युत्पत्ति व शब्दकोशी अध्ययन प्रमुख कहे जाते हैं। ध्वनिविज्ञान विषयक अध्ययन करने वालों में "मिडिल-इण्डो-आर्यन" के उपसर्ग, प्रत्यय, ध्वनि_विषयक पद्धति तथा भाषिक उच्चारों आदि का विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के अध्ययन करने वालों में प्रमुख रूप से आर० एल० टर्नर, एल० ए० स्वाजर्स चाइल्ड, जार्ज एस० लेन, के० आर० नार्मन के नाम लिए जा सकते हैं।

एल० आलसडोर्फ ने नव्य भारती आर्य-भाषाओं के उद्गम पर बहुअ अच्छा अध्ययन किया जो रूप-रचना विषयक है। लुइप एज० ग्रे ने "आब्जर्वेशन्स आन मिडिल इण्डियन मार्फोलाजी" (बुलेटिन स्कूल आव् ओरियन्टल स्टडीज, लन्दन, जिल्द ८, पृ० ५६३-७७, सन् १६३५-३७) में संस्कृत व वैदिक संस्कृत के रूप-सादृश्यों को ध्यान में रखकर उनकी समानता व कार्यों का विश्लेषण किया है। इस भाषावैज्ञानिक शाखा पर कार्य करने वाले उल्लेखनीय विद्वानों व भाषाशास्त्रियों के नाम हैं—ज्यूल ब्लास एडजर्टन, ए० स्वार्ज्स चाइल्ड, के० आर० नार्मन, एस० एन० घोषाल, डा० के० डी० व्रीस।

वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वानों में मुख्य रूप से डॉ० के० डी० व्रीस, एच० हेन्द्रिकसेन, पिसानी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं[1]। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप कई महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए। एच० हेन्द्रिकसेन ने अपने एक लेख "ए सिन्टेक्टिक रूल इन पाली एण्ड अर्द्धमागधी" के प्रयोग की वृद्धिगत पाँच अवस्थाओं का उद्घाटन किया है[2]। के० अमृतराव, डॉ० के० डी० व्रीस, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, कुइपर आदि ने प्राकृत पर पर द्रविड़ तथा अन्य आर्येतर भाषाओं के प्रभाव का अध्ययन किया।

भाषाकोशीय तथा व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन की दृष्टि से डब्ल्यू० एन० ब्राउन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना जाता है जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत—महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में सन् १६३२ में कोशीय टिप्पणियाँ लिखी थीं और १६३५-३७ ई० में "गौरीशंकर ओझा स्मृतिग्रन्थ" में "सम लेक्सिकल मेटरियल इन जैन महाराष्ट्री प्राकृत" निबन्ध में वीरदेवगणि ने के 'महीपालचरित" से शब्दकोशीय विवरण प्रस्तुत किया था। ग्रे ने अपने शोधपूर्ण निबन्ध में जो कि "फ्रिस्टीन प्राकृत-इण्डो-युरोपियन एटिमोलाजीज" शीर्षक से जर्नल आव् द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी (६०, ३६१-६६) में सन् १६४० में प्रकाशित हुआ था। अपने इस निबन्ध में ग्रे महोदय ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि प्राकृत के कुछ शब्द यारोपीय परिवार के विदेशी शब्द हैं। कोल, जे० ब्लाख, आर० एल० टर्नर, गुस्तेव राथ, कुइपर, के० आर० नार्मन, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि भाषा-वैज्ञानिकों ने शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से पर्याप्त अनुशीलन किया। वाकरनागल ने प्राकृत के शब्द का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अच्छा अध्ययन किया।

इसी प्रकार संस्कृत पर प्राकृत का प्रभाव दर्शाने वाले निबन्ध भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। उनमें से गाइगर स्मृति-ग्रन्थ में प्रकाशित एच० ओरटेल का निबन्ध "प्राकृतिसिज्म इन छान्दोग्योपनिषद्" (लिपजिग, १६३१) तथा ए० सी० वूलनर के "प्राकृत एण्ड नान-आर्यन स्ट्रेटा इन द वाकेबुलरी आव संस्कृत" (आशुतोष मेमोरियल

---

[1] प्रोसीडिंग्स आव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १६७०, पृ० २२३.

[2] वही, पृ० २३.

वाल्युम, पटना, १९२८) ,जे० ब्लाख के कई निबन्ध और एमेन्यु के निबन्ध "द डायलेक्ट्स आव इण्डो-आर्यन," "सम क्लियर एवीडेन्स आव प्राकृतिसिज्म इन पाणिनि" महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं[1] ।

इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषा के उच्चारण आदि के सम्बन्ध में तथा ध्वन्यात्मक दृष्टि से डॉ० ग्रियर्सन, स्वार्ज्स चाइल्ड तथा एमेन्यु आदि का अध्ययन-विश्लेषण आज भी महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश करने वाला है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा उनके विविध प्रवृत्तियों के मूलगत स्वरूप के अध्ययन की दृष्टि से भी मध्य-भारतीय आर्यभाषाओं और विशेषकर प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का आज भी विशेष अध्ययन विशेष रूप से उपयोगी एवं भाषा-भाषिक संसार में कई नवीन तथ्यों को प्रकट करने वाला है। इस दृष्टि से इन भाषाओं का बहुत कम अध्ययन हुआ है। इतना अवश्य है कि यह दिशा आज भी शोध व अनुसन्धान की दृष्टि से समृद्ध तथा नवीन आयामों को उद्घाटित कर सकती है। काश ! हमारी युवा पीढ़ी इस ओर उन्मुख होकर विशेष श्रम तथा अनुशीलन करे, तो सांस्कृतिक अध्ययन के भी नवीन क्षितिजों को पार कर स्वर्णिम विहान लाया जा सकता है।

---

१. प्रोसीडिंग्स आव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २२५-२६.